# मैं एक पति हूँ

## पतरस बुख़ारी

मैं एक पति हूँ। दब्बू व आज्ञाकारी। अपनी पत्नी रौशन आरा को अपनी ज़िन्दगी की हर एक बात से आगाह रखना जीवन का मूल सिद्धांत समझता हूँ और हमेशा से इसका पालन करता रहा हूँ। ऐ ख़ुदा मेरा अंत भला हो।

अतः मेरी पत्नी मेरे दोस्तों की सारी आदतों व अवगुणों से अवगत है, जिसका नतीजा यह है कि मेरे दोस्त जितने मुझको प्यारे हैं उतने ही रौशन आरा को बुरे लगते हैं। मेरे मित्रों की जिन अदाओं ने मुझ पर जादू कर रखा है, उन्हें मेरी पत्नी एक सज्जन पुरुष के लिए शर्मिंदगी का कारण समझती है।

आप कहीं यह न समझ लें कि ख़ुदा-न ख़्वास्ता वे कोई ऐसे आदमी हैं जिनका ज़िक्र किसी प्रतिष्ठित समूह में न किया जा सके। कुछ अपने हुनर के कारण और कुछ इस नाचीज़ की सोहबत की बदौलत सबके सब ही सफ़ेदपोश हैं। लेकिन इस बात को क्या करूँ कि उनकी दोस्ती मेरे घर के अमन-चैन को ऐसा भंग करती है कि कुछ कह नहीं सकता।

मसलन मिर्ज़ा साहब ही को लीजिए। अच्छे ख़ासे और भले आदमी हैं। हालाँकि वन-विभाग में एक माक़ूल पद पर आसीन हैं लेकिन शक्ल व सूरत ऐसी पवित्र पाई है कि मस्जिद के इमाम मालूम होते हैं। जुआ वे नहीं खेलते, गिल्ली-डंडे का उनको शौक़ नहीं, जेब कतरते हुए कभी वे नहीं पकड़े गए। अलबत्ता कबूतर पाल रखे हैं। उन्हीं से जी बहलाते हैं। हमारी पत्नी की यह दशा है कि मुहल्ले का कोई बदमाश जुए में क़ैद हो जाए तो उसकी माँ के पास मातमपुर्सी तक को चली जाती हैं। गिल्ली-डंडे में किसी की आँख फूट जाए तो मरहम पट्टी करती रहती हैं। कोई जेबकतरा पकड़ा जाए तो घंटों आँसू बहाती रहती हैं। लेकिन वे सज्जन जिनको दुनिया भर की ज़बान मिर्ज़ा साहब, मिर्ज़ा साहब कहते थकती नहीं, हमारे घर में "मुऐ कबूतर-बाज़" के नाम से याद किए जाते हैं। कभी भूले से भी मैं आसमान की तरफ़ नज़र उठाकर किसी चील, कव्वे, गिद्ध, शिकरे को देखने लग जाऊँ तो रौशन आरा को फ़ौरन आशंका हो जाती है कि बस अब यह भी कबूतरबाज़ बनने लगा।

इसके बाद मिर्ज़ा साहब की शान में एक क़सीदा (प्रशस्ति) शुरू हो जाता है। बीच में मेरी ओर विषयांतर। कभी लंबी बहर (छंद) में कभी छोटी बहर में।

एक दिन जब यह घटना घटित हुई तो मैंने पक्का इरादा कर लिया कि इस मिर्ज़ा कम्बख़्त को कभी पास न फटकने दूँगा। आख़िर घर का हक़ सबसे पहले है। पति-पत्नी के आपसी प्रेम की तुलना में दोस्तों की ख़ुशी क्या चीज़ है? अतः हम ग़ुस्से में भरे हुए मिर्ज़ा साहब के घर गए। दरवाज़ा खटखटाया।

कहने लगे, “अंदर आ जाओ।”

हम ने कहा, “नहीं आते। तुम बाहर आओ।”

ख़ैर, अंदर गया। बदन पर तेल मलकर एक कबूतर की चोंच मुँह में लिए धूप में बैठे थे।

कहने लगे, "बैठ जाओ।" हम ने कहा, "बैठेंगे नहीं।"

आख़िर बैठ गए। मालूम होता है हमारे तेवर कुछ बिगड़े हुए थे।

मिर्ज़ा बोले, "क्यों भई! ख़ैर तो है!"

मैंने कहा "कुछ नहीं।"

कहने लगे, "इस वक़्त कैसे आना हुआ?"

अब मेरे दिल में जुमले खौलने शुरू हुए। पहले इरादा किया कि एक दम ही सब कुछ कह डालो और चल दो। फिर सोचा कि मज़ाक़ समझेगा। इसलिए किसी ढंग से बात शुरू करो। लेकिन समझ में न आया कि पहले क्या कहें। आख़िर हम ने कहाः

"मिर्ज़ा! भई कबूतर बहुत महंगे होते हैं।"

यह सुनते ही मिर्ज़ा साहब ने चीन से लेकर अमरीका तक के तमाम कबूतरों को एक-एक करके गिनवाना शुरू किया। इसके बाद दाने की महंगाई के बारे में गीत गाते रहे और फिर सिर्फ़ महंगाई पर भाषण देने लगे। उस दिन तो हम यूँ ही चले आए लेकिन अभी खट-पट का इरादा दिल में बाक़ी था। खुदा का करना क्या हुआ कि शाम को घर में हमारी सुलह हो गई। हमने कहा, "चलो अब मिर्ज़ा के साथ बिगाड़ने से क्या फ़ायदा? अतः दूसरे दिन मिर्ज़ा से भी सुलह-सफ़ाई हो गई।

लेकिन मेरी ज़िंदगी कड़वी करने के लिए एक न एक दोस्त हमेशा उपयोगी होता है। ऐसा लगता है कि प्रकृति ने मेरे स्वभाव में स्वीकृति और सलाहियत कूट-कूटकर भर दी है क्योंकि हमारी पत्नी को हममें हर समय किसी न किसी दोस्त की आदतों की झलक नज़र आती रहती है। यहाँ तक कि मेरा अपना निजी व्यक्तिगत चरित्र बिल्कुल ही लुप्त हो चुका है।

शादी से पहले हम कभी-कभी दस बजे उठा करते थे, वरना ग्यारह बजे। अब कितने बजे उठते हैं? इसका अंदाज़ा वही लोग लगा सकते हैं जिनके घर नाशता ज़बरदस्ती सुबह के सात बजे करा दिया जाता है, और अगर हम कभी इंसानी कमज़ोरी के तक़ाज़े से मुर्गों की तरह तड़के उठने में कोताही करें तो तुरंत कह दिया जाता है कि यह उस निखट्टू 'नसीम' की सोहबत का नतीजा है। एक दिन सुबह-सुबह हम नहा रहे थे। सर्दी का मौसम। हाथ पाँव काँप रहे थे। साबुन सिर पर मलते थे तो नाक में घुसता था कि इतने में हमने खुदा जाने किस रहस्यमय भावना से उत्प्रेरित होकर ग़ुसलख़ाने में अलापना शुरू किया और फिर गाने लगे कि "तोरी छल-बल है न्यारी....." इसको हमारी अत्यंत अरसिकता समझा गया और इस अरसिकता का मूल स्रोत हमारे दोस्त पण्डित जी को ठहराया गया।

लेकिन हाल ही में मुझपर एक ऐसा हादसा गुज़रा है कि मैंने तमाम दोस्तों को छोड़ देने की क़सम खा ली है।

तीन चार दिन का ज़िक्र है कि सुबह के वक़्त रौशन आरा ने मुझसे मायके जाने की इजाज़त माँगी। जबसे हमारी शादी हुई है रौशन आरा सिर्फ़ दो दफ़ा मायके गयी है। और फिर उसने कुछ इस सादगी और दीनता से कहा कि मैं इनकार न कर सका।

कहने लगी, "तो फिर मैं डेढ़ बजे की गाड़ी से चली जाऊँ।"

मैंने कहा "और क्या?"

वह झट तैयारी में व्यस्त हो गयी और मेरे दिमाग़ में आज़ादी के विचारों ने चक्कर लगाने शुरू किए। यानी अब बेशक दोस्त आयें। बेशक ऊधम मचाएँ । मैं बेशक गाउँ। बेशक जब चाहूँ उठूँ। बेशक थिएटर जाऊँ। मैंने कहा :

"रौशन आरा जल्दी करो। नहीं तो गाड़ी छूट जाएगी।"

साथ स्टेशन पर गया। जब गाड़ी में सवार करा चुका तो कहने लगी:

"ख़त ज़रूर लिखते रहिए!"

मैंने कहा, "हर रोज़। और तुम भी!"

"खाना वक़्त पे खा लिया कीजिए और हाँ धुले हुए मोज़े और रूमाल अलमारी के निचले ख़ाने में पड़े हैं।"

इसके बाद हम दोनों ख़ामोश हो गए और एक दूसरे के चेहरे को देखते रहे। उसकी आँखों में आँसू भर आए। मेरा दिल भी बेताब होने लगा और जब गाड़ी रवाना हुई तो मैं देर तक गुमसुम प्लेटफ़ॉर्म पर खड़ा रहा।

आख़िर आहिस्ता-आहिस्ता क़दम उठाता हुआ किताबों की दुकान तक आया और पत्रिकाओं के पन्ने पलट-पलटकर तस्वीरें देखता रहा। एक अख़बार ख़रीदा। तह करके जेब में डाला और आदत के अनुसार घर का इरादा कर लिया।

फिर ख़याल आया कि अब घर जाना ज़रूरी नहीं। अब जहाँ चाहूँ जाऊँ। चाहूँ तो घंटों स्टेशन पर ही टहलता रहूँ। दिल चाहता था क़लाबाज़ियाँ खाऊँ।

कहते हैं, जब अफ़्रीक़ा के वहशियों को किसी सभ्य मुल्क में कुछ अरसे के लिए रखा जाता है तो वे वहाँ की शानो-शौकत से बहुत प्रभावित होते हैं। लेकिन जब वापस जंगलों में पहुँचते हैं तो खुशी के मारे चीख़ें मारते हैं। कुछ ऐसी ही दशा मेरे दिल की भी हो रही थी। आज़ादी से भागता हुआ स्टेशन से बाहर निकला। आज़ादी के लहजे में तांगे वाले को बुलाया और कूदकर तांगे में सवार हो गया। सिगरेट सुलगा लिया। टांगें सीट पर फैला दीं और क्लब को रवाना हो गया।

रस्ते में एक बहुत ज़रूरी काम याद आ गया। ताँगा मोड़कर घर की तरफ़ पल्टा। बाहर ही से नौकर को आवाज़ दी।

"अमजद!"

"हुज़ूर!"

"देखो, हज्जाम को जाकर कह दो कि कल ग्यारह बजे आए।"

"बहुत अच्छा।"

"ग्यारह बजे। सुन लिया न? कहीं रोज़ की तरह फिर छह बजे न टपक पड़े।"

"बहुत अच्छा हुज़ूर।"

"और अगर ग्यारह बजे से पहले आए, तो धक्के देकर बाहर निकाल दो।"

यहाँ से क्लब पहुँचे। आज तक कभी दिन के दो बजे क्लब न गया था। अंदर दाख़िल हुआ तो सुनसान। आदमी का नामो-निशान तक नहीं। सब कमरे देख डाले। बिलियर्ड का कमरा ख़ाली। शतरंज का कमरा ख़ाली। ताश का कमरा ख़ाली। सिर्फ़ खाने के कमरे में एक नौकर छुरियाँ तेज़ कर रहा था। उससे पूछा "क्यों बे आज कोई नहीं आया?"

कहने लगा, "हुज़ूर! आप तो जानते ही हैं। इस समय भला कौन आता है?"

बहुत मायूस हुआ। बाहर निकलकर सोचने लगा कि अब क्या करूँ? और कुछ न सूझा तो वहाँ से मिर्ज़ा साहब के घर पहुँचा। मालूम हुआ अभी दफ़्तर से वापस नहीं आए। दफ़्तर पहुँचा। देखकर बहुत हैरान हुए। मैंने सब हाल बयान किया। कहने लगे, "तुम बाहर के कमरे में ठहरो, थोड़ा सा काम रह गया है। बस अभी भुगता के तुम्हारे साथ चलता हूँ। शाम का प्रोग्राम क्या है?"

मैंने कहा, "थिएटर!"

कहने लगे, "बस बहुत ठीक है! तुम बाहर बैठो, मैं अभी आया।"

बाहर के कमरे में एक छोटी सी कुर्सी पड़ी थी। उस पर बैठकर इंतज़ार करने लगा और जेब से अख़बार निकालकर पढ़ना शुरू कर दिया। शुरू से आख़िर तक सब पढ़ डाला और अभी चार बजने में एक घंटा बाक़ी था। फिर से पढ़ना शुरू कर दिया। सब विज्ञापन पढ़ डाले और फिर सब विज्ञापनों को दुबारा पढ़ डाला।

आख़िरकार अख़बार फेंककर बिना किसी संकोच या लिहाज़ के जमाहियाँ लेने लगा। जम्हाई पे जम्हाई, जम्हाई पे जम्हाई। यहाँ तक कि जबड़ों में दर्द होने लगा। उसके बाद टांगें हिलाना शुरू किया। लेकिन इससे भी थक गया। फिर मेज़ पर तबले की गतें बजाता रहा। बहुत तंग आ गया तो दरवाज़ा खोलकर मिर्ज़ा से कहा, "अबे यार! अब चलता भी है कि मुझे इंतज़ार ही में मार डालेगा? मर्दूद कहीं का! सारा दिन मेरा बरबाद कर दिया।"

वहाँ से उठकर मिर्ज़ा के घर गए। शाम बड़े मज़े में कटी। खाना क्लब में खाया और वहाँ से दोस्तों को साथ लिए थिएटर गए। रात के ढाई बजे घर लौटे। तकिए पर सिर रखा ही था कि नींद ने बेहोश कर दिया।

सुबह आँख खुली तो कमरे में धूप लहरें मार रही थी। घड़ी को देखा तो पौने ग्यारह बजे थे। हाथ बढ़ाकर मेज़ पर से एक सिगरेट उठाया और सुलगाकर तश्तरी में रख दिया और फिर ऊँघने लगा।
ग्यारह बजे अमजद कमरे में दाख़िल हुआ। कहने लगा, "हुज़ूर! हज्जाम आया है।"

हमने कहा, "यहीं बुला लाओ।" यह ऐश मुद्दत के बाद नसीब हुआ कि बिस्तर में लेटे-लेटे हजामत बनवा लें। इत्मिनान से उठे और नहा धोकर बाहर जाने के लिए तैयार हुए। लेकिन तबीयत में वह उमंग न थी जिसकी उम्मीद लगाए बैठे थे। चलते समय अलमारी से रुमाल निकाला तो ख़ुदा जाने क्या ख़याल दिल में आया। वहीं कुर्सी पर बैठ गया और दीवानों की तरह उस रूमाल को तकता रहा। अलमारी का एक और ख़ाना खोला तो सुरमई रंग का एक रेशमी दुपट्टा नज़र आया। बाहर निकाला। हल्की-हल्की इत्र की ख़ुशबू आ रही थी। बहुत देर तक उस पर हाथ फेरता रहा। दिल भर आया। घर सूना मालूम होने लगा। बहुतेरा अपने आपको संभाला

लेकिन आँसू टपक ही पड़े। आँसूओं का गिरना था कि बेताब हो गया और सच-मुच रोने लगा। सब जोड़े बारी-बारी निकालकर देखे। लेकिन न जाने क्या-क्या याद आया कि और भी बेक़रार होता गया।

आख़िर न रहा गया, बाहर निकला और सीधा तार-घर पहुँचा। वहाँ से तार दिया कि, "मैं बहुत उदास हूँ, तुम फ़ौरन आ जाओ!"

तार देने के बाद दिल को इत्मिनान हुआ। यक़ीन था कि रौशन आरा अब जिस क़दर जल्द हो सकेगा आ जाएगी। इससे कुछ ढारस बंध गई और दिल पर से जैसे एक बोझ हट गया।

दूसरे दिन दोपहर को मिर्ज़ा के मकान पर ताश का खेल गर्म होना था। वहाँ पहुँचे तो मालूम हुआ कि मिर्ज़ा के पिताजी से कुछ लोग मिलने आए हैं। इसलिए सलाह यह ठहरी कि यहाँ से किसी और जगह सरक चलो। हमारा मकान तो ख़ाली था ही। सब यार लोग वहीं जमा हुए। अमजद से कह दिया गया कि हुक़्क़े में अगर ज़रा भी देरी हुई तो तुम्हारी ख़ैर नहीं, और पान इस तरह से बिना रुके पहुँचते रहें कि बस तांता लग जाए।

अब उसके बाद की घटनाओं को कुछ मर्द ही अच्छी तरह समझ सकते हैं। शुरू-शुरू में तो ताश बाक़ायदा और नियम के अनुसार होता रहा। जो खेल भी खेला गया बहुत माक़ूल तरीक़े से, नियम-क़ायदे के मुताबिक़ और गंभीरता व ईमानदारी के साथ। लेकिन एक दो घंटे के बाद कुछ चंचलता शुरू हुई। यार लोगों ने एक दूसरे के पत्ते देखने शुरू कर दिए। यह हालत थी कि आँख बची नहीं और एक आध काम का पत्ता उड़ा नहीं, और साथ ही ठहाके पर ठहाके उड़ने लगे। तीन घंटे के बाद यह हालत थी कि कोई घुटना हिला-हिलाकर गा रहा है। कोई फ़र्श पर बाज़ू टेके सीटी बजा रहा है। कोई थिएटर का एक आध मज़ाक़िया जुमला लाखों बार दोहरा रहा है। लेकिन ताश बराबर हो रहा है। थोड़ी देर के बाद धौल-धप्पा शुरू हो गया। इन मनोरंजनों के दौरान में एक मसख़रे ने एक ऐसे खेल का प्रस्ताव रखा जिसके आख़िर में एक आदमी बादशाह बन जाता है, दूसरा वज़ीर, तीसरा कोतवाल और जो सबसे हार जाए वह चोर। सबने कहा, "वाह! वाह! क्या बात कही है!" एक बोला, "फिर आज जो चोर बना, उसकी शामत आ जाएगी।" दूसरे ने कहा, "और नहीं तो क्या। भला कोई ऐसा-वैसा खेल है। सलतनतों के मामले हैं, सलतनतों के!"

खेल शुरू हुआ। बदक़िस्मती से हम चोर बन गए। तरह-तरह की सज़ाएँ सुझाई जाने लगीं। कोई कहे, "नंगे पाँव भागता हुआ जाए और हलवाई की दुकान से मिठाई ख़रीद के लाए।" कोई कहे, "नहीं हुज़ूर! सबके पाँव पड़े और हर एक से दो-दो चाँटे खाए।" दूसरे ने कहा, "नहीं साहब, एक पाँव पर खड़ा होकर हमारे सामने नाचे।" आख़िर में बादशाह सलामत बोले, "हम हुक्म देते हैं कि चोर को काग़ज़ की एक लम्बूतरी नोकदार टोपी पहनाई जाए और उसके चेहरे पर स्याही मल दी जाए और यह इसी हालत में जाकर अंदर से हुक़्क़े की चिलम भरकर लाए।" सबने कहा, "क्या दिमाग़ पाया है हुज़ूर ने! क्या सज़ा सुझाई है! वाह! वाह!"

हम भी मज़े में आए हुए थे। हमने कहा, "तो हुआ क्या? आज हम हैं कल किसी और की बारी आ जाएगी।" निहायत ख़ुशदिली से अपने चेहरे को पेश किया। हँस-हँसकर वह बेहूदा सी टोपी पहनी। एक

बेनियाज़ी की शान के साथ चिलम उठाई और ज़नाने का दरवाज़ा खोलकर बावर्ची-ख़ाने को चल दिए और हमारे पीछे कमरा ठहाकों से गूँज रहा था।

आँगन में पहुँचे ही थे कि बाहर का दरवाज़ा खुला और एक बुर्क़ापोश ख़ातून अंदर दाख़िल हुई। मुँह से बुर्क़ा उल्टा तो रौशन आरा!

दम सूख गया। बदन पर एक थरथरी सी तारी हो गई। ज़बान बंद हो गई। सामने वह रौशन आरा जिसको मैंने तार देकर बुलाया था कि, "तुम फ़ौरन आ जाओ। मैं बहुत उदास हूँ।" और अपनी यह हालत कि मुँह पर स्याही मली है, सिर पर वह लम्बूतरी सी काग़ज़ की टोपी पहन रखी है, और हाथ में चिलम उठाए खड़े हैं, और मर्दाने कमरे से ठहाकों का शोर बराबर आ रहा है।

जान जम सी गई, और सारी इन्द्रियों ने जवाब दे दिया। रौशन आरा कुछ देर तक चुपकी खड़ी देखती रही और फिर कहने लगी..... बस मैं क्या बताऊँ कि क्या कहने लगी? उसकी आवाज़ तो मेरे कानों तक जैसे बेहोशी की हालत में पहुँच रही थी।

अब तक आप इतना तो जान ही गए होंगे कि मैं अपने-आप में बेहद शरीफ़ आदमी हूँ। जहाँ तक मैं मैं हूँ। मुझसे बेहतर पति दुनिया पैदा नहीं कर सकती। मेरी ससुराल में सबकी यही राय है, और मेरी अपनी धारणा भी यही है। लेकिन इन दोस्तों ने मुझे बदनाम कर दिया है। इसलिए मैंने पक्का इरादा कर लिया है कि अब या घर में रहूँगा या काम पर जाया करूँगा। न किसी से मिलूँगा और न किसी को अपने घर आने दूँगा। सिवाए डाकिए या हज्जाम के। और उनसे भी बहुत संक्षिप्त बातें करूँगा।

"ख़त है?"

"जी हाँ।"

"दे जाओ। चले जाओ।"

"नाख़ुन तराश दो।"

"भाग जाओ।"

बस इससे ज़्यादा बात न करूँगा। आप देखिए तो सही!

***

अनुवादक : डॉ. आफ़ताब अहमद
व्याख्याता, हिंदी-उर्दू, कोलंबिया विश्वविद्यालय, न्यूयॉर्क